

गायत्री विद्या सेट

# अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा

■ श्रीराम शर्मा आचार्य

# अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा



लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य ६.०० रुपये

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३



लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

# अपना सुधार-संसार की सबसे बड़ी सेवा

मन एक देवता है। इसे ही शास्त्रों में प्रजापति कहा गया है। वेदांत में बतलाया गया है कि हर व्यक्ति की एक स्वतंत्र दुनिया है और वह उसके मन के द्वारा सृजन की हुई है। मनुष्य की मान्यता, भावना, निष्ठा, रुचि एवं आकांक्षा के अनुरूप ही उसे सारा विश्व दिखाई पड़ता है। यह दृष्टिकोण बदल जाए तो मनुष्य का जीवन भी उसी आधार पर परिवर्तित हो जाता है। इस मन देवता की सेवा पूजा का एक ही प्रकार है, मन को समझा-बुझाकर उसे सन्मार्ग पर लगाना। सही दृष्टिकोण अपनाने के लिए सहमत करना। यदि यह सेवा कर ली जाए तो सामान्य व्यक्ति भी महापुरुष बन सकता है। उसके वरदान का चमत्कार प्रत्यक्ष देख सकता है।

इस तथ्य की सुनिश्चितता में रत्तीभर भी संदेह की गुंजायश के लिए स्थान नहीं है कि जो हम सोचते हैं सो करते हैं और जो करते हैं सो भुगतते हैं। मन ही हमारा मार्गदर्शक है, वह जिधर ले चलता है शरीर उधर ही जाता है। यह मार्गदर्शक यदि कुमार्गगामी है तो विपत्तियों और वेदनाओं के जंजाल में फँसा देगा और यदि सुमार्ग पर चल रहा है तो शांति और समृद्धि के सत्परिणाम उपलब्ध होना सुनिश्चित है। ऐसे अपने इस भाग्य विधाता की ही सेवा हम क्यों न करें ? इस मार्गदर्शक को ही क्यों न पूजें ? गौ और ब्राह्मण की सेवा से यदि पुण्य फल मिल सकता है तो उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस मन देवता की सेवा से पुण्य-फल क्यों न प्राप्त

होगा? निश्चय ही सबसे अधिक पूजनीय, वंदनीय और सेवनीय यह मन का देवता ही है।

सच्चे ब्राह्मणों, देवताओं और संतों के आशीर्वाद से बहुत सुख मिलता सुना गया है, पर मन देवता का आशीर्वाद फलित होते हुए हम में हर कोई आसानी से चाहे जब देख सकता है। यदि सेवा-पूजा करके मन देवता को इस बात के लिए मना लें कि वह, सच्ची भूख लगने पर पेट की आवश्यकता से थोड़ा कम केवल उपयोगी पदार्थों को ही मुख में जाने दिया करे, चटोरेपन की आदत को सर्वथा छोड़ दे तो इतना मान लेने से आपकी बिगड़ी हुई पाचन क्रिया ठीक हो सकती है, शुद्ध रक्त बनना आरंभ हो सकता है और जो कमजोरी तथा बीमारी निरंतर घेरे रहती हैं, उनसे बहुत ही आसानी से छुटकारा मिल सकता है। शरीर स्वस्थ, सबल और सतेज हो सकता है और जिस स्वास्थ्य के लिए तरसते रहना पड़ता है, वह चिरस्थायी हो सकता है।

यदि मन का देवता यह मान ले कि सृष्टि के समस्त जीव जिस प्रकार काम सेवन के संबंध में प्रकृति की मर्यादा का पालन करते हैं, उसी प्रकार वह भी करे तो इतनी मात्र उसकी स्वीकृति से आपका मुरझाया हुआ चेहरा कमल के फूल की तरह खिल उठेगा। जीवन रस बुरी तरह निचुड़ते रहने से पौरुष खोखला होता चला जाता है, इस बरबादी को न करने के लिए यदि मन सहमत हो जाए तो आपके मस्तिष्क और कार्यकलापों में से ओज टपकने लगेगा। जैसे सिंह की हर क्रिया, हर चेष्टा उसके गौरव के अनुरूप होती है, वैसे ही ब्रह्मचर्य पालन करने से वह बरबादी से बचाया हुआ ब्रह्मतेज आपकी प्रत्येक चेष्टा में से प्रस्फुटित होने लगेगा। तब आप खोखले कागज के खिलौने नहीं, एक लौह पुरुष सिद्ध होंगे,

आपकी आँखों में तेज, बुद्धि में प्रौढ़ता और क्रिया में प्रामाणिकता की छाप होगी। यह लाभ आपको बड़ी आसानी से मिल सकते हैं, यदि आप मन के देवता को इंद्रियों का दुरुपयोग न करके आहार-विहार को प्राकृतिक और नियमित रखने की एक छोटी-सी बात पर सहमत कर लें। सेवा में बड़ी शक्ति है, उससे भगवान भी वश में हो सकते हैं फिर मन देवता द्रवित क्यों न होंगे ?

हर आदमी को लगता है कि वह काम में बहुत व्यस्त रहता है। उस पर जिम्मेदारियों का तथा परिश्रम का बहुत बोझ रहता है, पर सही बात ऐसी नहीं है। उसका कार्यक्रम अनियंत्रित, बेसिलसिले, अस्त-व्यस्त ढंग का होता है, इसलिए थोड़ा काम भी बहुत भार डालता है। यदि हर काम समय विभाजन के अनुसार सिलसिले से, ढंग और व्यवस्था के आधार पर बनाया जाए तो सब काम भी आसानी से हो सकते हैं, मानसिक भार से भी बचा जा सकता है और समय का एक बहुत बड़ा भाग उपयोगी कार्यों के लिए खाली भी मिल सकता है। हमारे अविकसित देश में तो लोग पढ़ने में ध्यान देना तो दूर उसका महत्त्व समझने तक में असमर्थ हो गए हैं, पर जिनकी विवेक की आँखें खुली हुई हैं, वे जानते हैं कि इस संसार की प्रधान शक्ति ज्ञान है और वह ज्ञान का बहुमूल्य रत्न भंडार पुस्तकों की तिजोरियों में भरा पड़ा है। इन तिजोरियों की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति अपने अंतःप्रदेश को न तो विकसित कर सकता है और न उसे महान बना सकता है। अध्ययन एक वैसी ही आत्मिक आवश्यकता है जैसे शरीर के लिए भोजन। इसलिए मन देवता को राजी करना होगा कि दैनिक कार्यक्रम की व्यवस्था बनाकर वे कुछ समय बचाएँ और उसे अध्ययन के लिए नियत कर दें। नित्य का अध्ययन

वैसा ही अनिवार्य बना दें जैसा कि शौच, स्नान, भोजन और शयन आवश्यक होता है।

स्वाध्याय और ज्ञान के बाद तीसरी विभूति है-स्वभाव। इन तीन को ही मिलाकर पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अपने सब कार्यों में व्यवस्था, नियमितता, सुंदरता, मनोयोग तथा जिम्मेदारी का रहना स्वभाव का प्रथम अंग है। दूसरा अंग है-दूसरों के साथ नम्रता, मधुरता, सज्जनता, उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार करना। तीसरा अंग है-धैर्य, अनुद्वेग, साहस, प्रसन्नता, दृढ़ता और समता की संतुलित स्थिति बनाए रहना। यह तीनों ही अंग जब यथोचित रूप से विकसित होते हैं तो उसे स्वस्थ स्वभाव कहा जाता है। यह तीनों बातें भी मन की स्थिति पर ही निर्भर रहती हैं।

आमतौर से लोग किसी काम को आरंभ करते हैं और उसे बिना पूरी तरह समाप्त किए ही अधूरा छोड़ देते हैं। पुस्तक पढ़ेंगे तो उसे समाप्त करके यथास्थान रखने की अपेक्षा जहाँ की तहाँ पड़ी छोड़कर चल देंगे। कपड़े उतारेंगे तो उन्हें झाड़कर तह बनाकर यथास्थान रखने की बजाए चाहे जहाँ उतार कर फेंक देंगे। पानी पिएँगे तो खाली गिलास को उसके नियत स्थान पर रखकर तब अन्य काम करने की बजाए उसे जहाँ का तहाँ पटककर और काम में लग जाएँगे। काम को पूरी तरह समाप्त किए बिना उसे अधूरा छोड़कर चल देना, स्वभाव का एक बड़ा भारी दोष है। इसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र पर पड़ता है और उनके सभी कार्य प्रायः अधूरे पड़े रहते हैं। व्यवस्था के साथ सफलता का अटूट संबंध है। इस बात को मन महोदय मान लें तो समझना चाहिए कि हारी बाजी जीत ली। अपनी प्रत्येक वस्तु को सुंदर, कलात्मक, सुव्यवस्थित

रखने के लिए मन की सौंदर्य भावना विकसित होनी चाहिए। उसी सौंदर्य में व्यक्तित्व का सम्मान छिपा हुआ है।

मधुरता, नम्रता और उदारता किसी व्यक्ति की महानता का अधिकृत चिह्न है। जिसके हृदय में दूसरों के प्रति आदर, प्रेम और सद्भाव है, वह निश्चय ही उसके साथ सज्जनता का व्यवहार करेगा। इसमें यदि थोड़ा समय लगता हो या खर्च बढ़ता हो तो भी वह उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करेगा। बहुत करके तो विनम्र मुस्कराहट के साथ मधुर शब्दों में वार्तालाप करने से काम चल जाता है। शिष्टाचार का ध्यान रखना, अपने कार्य दूसरों से कराने की अपेक्षा औरों के ही छोटे-मोटे काम कर देना, यह मामूली-सी बात है, पर इससे हमारी सज्जनता की छाप दूसरों पर पड़ती है। दूसरों की कड़ुई बात को भी सह लेना, दूसरों के अनुदार व्यवहार को भी पचा जाना और बदले में अपनी ओर से सज्जनता का ही परिचय देना, अपनी वाणी या व्यवहार में अहंकार या उच्छृंखलता की दुर्गन्ध न आने देना सत्पुरुषों का मान्य लक्षण है। अपना स्वभाव ऐसा ही बनाने के लिए यदि मन को साध लिया जाए तो मनुष्य अजातशत्रु बन सकता है। इस प्यार की मार से उसके सभी शत्रु मूर्च्छित और मृतक हो सकते हैं। मित्र तो उनके चारों ओर इसी प्रकार घिरे रह सकते हैं जैसे खिले हुए कमल के आस-पास भौरें मँडराते रहते हैं। यह सिद्धि जीवन की सफलता के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर मिलती उसे ही है जिसने मन के देवता को इसके लिए तैयार कर लिया है।

जीवन में बहुधा अप्रिय प्रसंग आते रहते हैं। यह जरूरी नहीं कि हमेशा प्रिय परिस्थितियाँ तथा अनुकूल व्यवहार ही उपलब्ध हों। हानि, घाटा, रोग, शोक, बिछोह, अपमान, असफलता, आक्रमण,



आपत्ति आदि की विपन्न स्थितियाँ भी सुख-संपत्ति की भाँति आती रहती हैं। इनका आना अनिवार्य है। कोई भी इन विविधताओं से बच नहीं पाता। इस उभयपक्षीय क्रम को सहन करने योग्य मनोभूमि बनाए रखना हर विवेकशील का कर्तव्य है। प्रतिकूलताएँ आने पर जो घबराते हैं, अधीर होते हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ बनते हैं, वे अपनी इस दुर्बलता को भी एक नई विपत्ति के रूप में ओढ़ते हैं और उनका कष्ट दूना हो जाता है। इसके विपरीत साहसी और धैर्यशील लोग कठिन से कठिन समय को भी अपने साहस के बल पर काट देते हैं और निराशा को चीरकर आशा का वातावरण बनाने के लिए प्रयत्न करके फिर कामचलाऊ स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं। जरा-सी बात पर घबरा जाना, चिंतित हो जाना, रोना, पीटना, निराश हो बैठना, उत्तेजित हो जाना, क्रोधांध होकर न कहने योग्य कहने लगना और न करने योग्य कर बैठना, यह सब मनुष्य की क्षुद्रता और नास्तिकता के चिह्न हैं। जिसका हृदय विशाल है, कलेजा चौड़ा है, दृष्टिकोण दूरदर्शी है, वह आपत्तियों और प्रतिकूलताओं को कुछ क्षण ठहरने वाली प्रकृति की एक लहर मात्र मानता है और उसे हँसते हुए, उपेक्षा की दृष्टि रखते हुए सरलतापूर्वक पार कर लेता है, पर यह संभव तभी है जब मन के देवता हमारी सेवा से प्रसन्न होकर अपने आपको इस संतुलित स्थिति में रखने के लिए तैयार हो जाएँ। वे अपने सहयोगी बन जाएँ, विरोध करना और सताना छोड़ दें तो अच्छा स्वभाव बनने में देर ही कितनी लगेगी ? अच्छा स्वभाव बन जाना, इस संसार की एक बहुमूल्य संपत्ति प्राप्त करके भारी अमीरी भोगने के आनंद से भी बढ़कर है।

मन के देवता प्रसन्न होकर भौतिक जीवन को आनंदमय और सुसंपन्न बनाने के लिए हमें स्वास्थ्य, ज्ञान और स्वभाव की उत्कृष्टता

प्रदान करते हैं। इन वरदानों को पाकर हमारे सांसारिक जीवन में धन, यश, प्रसन्नता, प्रफुल्लता, संतोष, उल्लास, प्रेम, सहयोग सभी कुछ मिलने लगता है। सफलता के द्वार हर दिशा में खुल जाते हैं। इसी जीवन में स्वर्गीय सुख की उपलब्धि, उन्नति एवं जीवन लक्ष्य की प्राप्ति भी मन के सधने पर ही अवलंबित है। सेवा का पुण्य फल प्राप्त करने के लिए हमें अवश्य ही प्रयत्नशील होना चाहिए, पर सेवा करें किसकी ? सबसे प्रथम सेवा का अधिकारी, सबसे अधिक सत्पात्र, सबसे अधिक समीपवर्ती, संबद्ध एवं विश्वस्त अपना मन ही है। हमें इसी की ओर सबसे पहले, सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए।



## सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी-हमारा मन

सेवाओं में समझाने की सेवा सबसे बड़ी सेवा मानी गई है। ब्राह्मण ने इसी सेवा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया, इसलिए वह सब वर्णों में श्रेष्ठ सबका पूज्य माना गया है। किसी को धन या कुछ वस्तुएँ दे देने का लाभ थोड़ी ही देर सुख पहुँचाता है, पर यदि कोई समझाने से समझ जाए, कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर चलने लगे तो उसके सुखद सत्परिणामों की अत्यंत विशाल संभावना बन जाती है।

सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी हमारा अपना आपा, अपना मन ही है। वह भी वाल्मीकि से कम नहीं है। यदि हम नारद बनकर उसे समझा लेते हैं तो आज जो अपनी घटिया दर्जे की

**अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा-९**

स्थिति है, वह न रहेगी। उसमें निश्चित रूप से परिवर्तन होगा, महानता उपलब्ध होगी जिसके फलस्वरूप अपना अंतःकरण सुख-शांति से भर जाएगा, शत्रु मित्र बनेंगे, असहयोग करने वाले सहयोगी बनेंगे, उपेक्षा की दृष्टि से देखने वालों की आँखों से प्रेम और श्रद्धा चमकने लगेगी। अपना स्वभाव ऐसा मधुर होगा कि हर कोई संपर्क में आने की, लिपटने की कोशिश करेगा। कार्य ऐसे होंगे जिनसे अपना मान और महत्त्व सर्वसाधारण की दृष्टि में दिन-रात बढ़ता ही चलेगा।

सेवा-धर्म की उपयोगिता और आवश्यकता स्वीकार कर लेने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सेवा किसकी करें ? मन में विश्व-हित की, लोक-कल्याण की, जनता-जनार्दन की सेवा की भावना तो होनी चाहिए, पर उसका कार्यक्षेत्र एक नियत मर्यादा में ही होना चाहिए अन्यथा बिना विवेक की सेवा का लाभ कुपात्र अथवा ऊसर में बीज बोने की तरह शक्ति का अपव्यय होगा।

सेवा करते समय सत्पात्र का ध्यान रखना आवश्यक है। अपने से पिछड़े, समीपवर्ती, संबद्ध और विश्वास करने वालों की ही विचारात्मक सेवा हो सकना संभव है। ऐसे कितने ही व्यक्ति हो सकते हैं जो उपर्युक्त कसौटियों पर ठीक उतरें। उन सब की भी यथाशक्ति सेवा आरंभ करनी चाहिए, पर अच्छा यह है कि हम अपने प्रयोग और परीक्षण के लिए किसी एक को चुनें और उसके साथ पूरा-पूरा श्रम करके यह देखें कि हमारी सेवाभावना और सेवाशक्ति कितनी सफल हो सकी ? हमने अपने प्रयत्न को कितनी तत्परता के साथ किया और उसका क्या परिणाम निकला ?

इस दृष्टि से हमारा अपना मन ही सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी हो सकता है। जीवात्मा से वह छोटा भी है, संबद्ध भी है।

समीप भी है और विश्वासपात्र भी है फिर उसी को क्यों न अपना सेवाभाजन बनाएँ ? यह सोचना ठीक नहीं कि उपकार तो दूसरों का होता है, अपना उपकार करना तो स्वार्थ होगा, उसे क्यों करें ? बात ऐसी है कि इस संसार में सभी अपने या सभी बिराने हैं। सबमें अपना ही आत्मा समाया हुआ है इसलिए कोई भी बिराना नहीं। यदि बिराना ही मानना हो तो मन भी अपना कहाँ है ? वही अपने कहने में कब चलता है ? उसका व्यवहार भी मित्र जैसा कब है ? दुष्ट साथी और विश्वासघाती नौकर की तरह वह हमें क्या कम दुःख देता है ? जब अन्य दुष्टों को सुधारने की बात सोची जाती है तो अपने इस चौबीस घंटे के साथी की ही उपेक्षा क्यों की जाए ? जब दूसरों के बेटों को उपदेश देने की योजना है तो अपने बेटे को भी वैसे उपदेश करने में क्या दोष है ? जब सारे नारी समाज के उद्धार करने की इच्छा हो तो अपनी पत्नी को नारी समाज के बाहर समझकर उसकी उपेक्षा क्यों की जाए ?

जीवन के उत्थान एवं पतन का केंद्र मन है। यह मन जिधर चलता है, जिधर इच्छा और आकांक्षा करता है, उधर ही उसकी एक दुनिया बनकर खड़ी हो जाती है। उसमें ऐसा अद्भुत आकर्षण एवं चुंबकत्व है कि जिससे खिंचती हुई संसार की वैसी ही वस्तुएँ, घटनाएँ, साधन-सामग्री, मानवी एवं दैवी सहायता एकत्रित हो जाती हैं जैसी कि उसने इच्छा एवं कामना की थी। कल्पवृक्ष की उपमा मन को ही दी गई है। पृथ्वी का कल्पवृक्ष यही है। उसमें ईश्वर ने वह शक्ति विशाल परिमाण में भर दी है कि जैसा मनोरथ करे वैसे ही साधन जुट जाएँ और उसी पथ पर प्रगति होने लगे। मन को ही कामधेनु कहा गया है। वही कामना भी करता है और वही उनकी पूर्ति के साधन भी जुटा लेता है।

यदि सेवा ही करनी है तो इस कामधेनु की ही क्यों न करें, यदि पूजन और सिंचन करना है तो इस कल्पवृक्ष का ही क्यों न करें, जिससे हमारा अपना अभीष्ट सिद्ध हो और साथ ही संसार का भी सब प्रकार से कल्याण होने का योग बने। मन की अद्भुत शक्तियों का जितना-जितना पता चलता है, उतना ही मनुष्य आश्चर्यचकित होता जाता है। मनोबल और उसकी इच्छाशक्ति के चमत्कारों को जिन्होंने देखा है, सुना है और समझा है, वे जानते हैं कि हाड़-मांस की इस ठठरी में छिपा हुआ एक प्रचंड बैताल के रूप में यह मन ही बैठा रहता है। यह पैशाचिक कुकृत्य भी कर सकता है, स्वर्ग जैसे नंदनवन की रचना भी कर सकता है और कुंभकरण की तरह पड़ा-पड़ा जीवन क्षणों को बरबाद भी करता रह सकता है। देवताओं की पूजा फल दे न दे यह संदिग्ध है, पर मन का देवता प्रत्यक्ष है। इसकी आराधना कभी निष्फल नहीं जाती। यह तुरंत फल देता है। गाय की दिन में ठीक तरह सेवा करने से शाम को ही दूध की देगची भर देती है। यह मन की कामधेनु उससे भी अधिक उदार और निश्चित फलदायिनी है। गाय की सेवा कभी निष्फल भी हो सकती है, पर इस कामधेनु का प्रत्युपकार तो निश्चित है।

यदि हम अपने आप की, अपने मन की सेवा करने लगे तो सेवा का सत्परिणाम देखने के लिए परलोक की, अगले जन्म की प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी। वरन् नकद धर्म की तरह 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' की उक्ति प्रत्यक्ष चरितार्थ होती दिखाई देगी। संसार के महापुरुषों के जीवन पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से पता चलता है कि परिस्थितियों, साधनों एवं योग्यताओं की दृष्टि से वे आरंभ में बहुत पिछड़े हुए ही थे। उनकी जन्म, जाति या सांसारिक स्थिति

लगभग वैसी ही थी जैसी औसत दर्जे के लोगों की होती है। उनमें एक ही विशेषता थी—“मनोबल की प्रखरता”। इसी बल के आधार पर उन्होंने इतने बड़े कार्य संपन्न कर डाले, जिन्हें देखने में हैरत होती है।

इन पंक्तियों में विश्व की उन असंख्य घटनाओं के उल्लेख करने का अवसर नहीं है जिनमें साधारण स्थिति के व्यक्तियों ने अपने प्रकट मनोबल और प्रबल पुरुषार्थ के बल पर अनहोनी जैसी बातों को संभव करके दिखा दिया। पुराणों और इतिहासों के पन्ने-पन्ने पर ऐसी गाथाएँ हमें पढ़ने को मिल सकती हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति की महानता उसे उपलब्ध साधनों या परिस्थितियों में नहीं वरन् उसके मनोबल में सन्निहित है। जब जिसका मनोबल जितनी मात्रा में विकसित हुआ है तब उसने अपने क्षेत्र में उतनी ही अद्भुत सफलताएँ प्राप्त करके अपने उन साथियों को आश्चर्य में डाला है जो परिस्थितियों का रोना रोकर अपनी काहिली पर पर्दा डालने की कोशिश किया करते हैं।

मन को कल्पवृक्ष कहा गया है और इस पर चार फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष लगते हैं, ऐसा बताया गया है। दूसरों की सेवा करने से केवल धर्म ही प्राप्त हो सकता है, पर अपनी, अपने मन की सेवा करने से जब वह सुधर जाता है, सन्मार्ग पर चलने लगता है तो धर्म लाभ के अनेकों अवसर तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति एवं सफलता का द्वार खुल जाता है और सब ओर से आनंद तथा प्रसन्नताजनक परिस्थितियाँ उपजती दिखाई देने लगती हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता इसी में दिखाई पड़ती है कि पहले अपनी सेवा करने के लिए ही कटिबद्ध हुआ जाए।

यदि किसी का लक्ष्य पुण्य-परमार्थ नहीं है, केवल स्वार्थ साधन ही अभीष्ट है तो उसे सेवा-धर्म अरुचिकर एवं हानिकारक दिखाई देगा। अपनी शक्ति उसमें खर्च करते समय उसे संकोच एवं दुःख लगेगा, पर अपनी सेवा करने में उसे वैसी कठिनाई न होगी। भौतिक जीवन की उन्नति के लिए मन का सधा हुआ होना आवश्यक है। यदि वह अव्यवस्थित, असंयमित है तो कोई लौकिक सफलता भी न मिल सकेगी। इसलिए लौकिक सुख-संपत्ति चाहने वाले व्यक्ति को भी यह लाभदायक प्रतीत होगा कि मनोनिग्रह की दिशा में, आत्मनिर्माण की दिशा में कुछ प्रयत्न किया जाए।

जिसका मन बेकाबू है उसका सांसारिक जीवन असफल एवं दुःखमय ही रहता है। चटोरी जीभ वाला व्यक्ति, जिसका मन हर घड़ी स्वादिष्ट पदार्थों को अधिक मात्रा में खाने के लिए ललचाता रहता है, वह अपनी बुरी आदत के कारण ही अपनी पाचन-शक्ति को खो बैठता है और पेट खराब हो जाने पर नाना प्रकार के रोग उसे घेर लेते हैं। कामवासना की लिप्सा जिसके मन पर चढ़ी रहती है वह सोते-जागते अपने जीवन-रस को बेहिसाब निचोड़ता रहता है और अंत में भीतर से खोखला होकर असमय में ही जरा, जीर्णता और अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जिसका मन पढ़ने में नहीं लगता वह विद्यार्थी भला किस प्रकार विद्वान हो सकेगा ? जिस व्यापारी का चित्त अपने व्यवसाय की बारीकियों पर नहीं जमता, उछला-उछला फिरता है, उससे पग-पग पर भूलें होती रहेंगी और असावधानी की, विस्मृति की, उपेक्षा की मात्रा बढ़ते रहने से घाटे की दिशा में ही उसका कारोबार चलेगा।

क्या कोई वैज्ञानिक ऐसा हुआ है जिसमें तन्मयता का, चित्त की एकाग्रता का गुण न रहा हो ? यदि उसमें ध्यानमग्न होने की

विशेषता न रही होती तो वह कदापि कोई महत्त्वपूर्ण खोज न कर सका होता। इंजीनियर, डाक्टर, कलाकार, चित्रकार, कवि, साहित्यकार जो कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, उसके पीछे उनका मनोयोग ही काम करता है। राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, लोकनायक, सेनापति आदि महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियों का भार वहन करने वाले वे ही लोग होते हैं जिनमें दूरदर्शिता होती है, समस्या के हर पहलू को बारीकी से सोच-समझ सकते हैं और यह सब मन के संयमित होने पर ही संभव है। ऐसे मनुष्य जिनका चित्त किसी काम पर नहीं जमता, उखड़ा-उखड़ा रहता है, कभी किसी काम में सफल नहीं हो पाते। यहाँ तक कि चोरी, उठाईगोरी, बेईमानी, व्यभिचार में भी वे सफल नहीं होते, वहाँ भी पकड़े जाते हैं और बदनामी उठाते हैं।

योग-साधना तो महर्षि पतंजलि के शब्दों में 'चित्त वृत्तियों का निरोध' मात्र ही है। योग-साधना का सारा कर्मकांड और विधि-विधान चित्त निरोध के लिए ही है। ध्यान की तन्मयता से ही भगवान के दर्शन होते हैं। विषय-विकारों की ओर से, माया-मोह की ओर से चित्त का हटा लेना ही मोक्ष है। मूर्तिपूजा, कीर्तन, भजन-पूजन का उद्देश्य भी मन की एकाग्रता ही है। सारी साधनाएँ मन को साधने के लिए ही हैं। भगवान के लिए क्या साधना करनी ? वह तो पहले से ही प्राप्त है, रोम-रोम में रमा है, अनंत वात्सल्य और असीम करुणा की वर्षा करता हुआ अपना वरदहस्त पहले से ही हमारे सिर पर रखे हुए हैं, उसे प्राप्त करने में क्या कठिनाई है ? कठिनाई तो मन के कुसंस्कारों की है जो आत्मा और परमात्मा के बीच में चट्टान बनकर अड़ा हुआ है। यदि वह अपनी अड़ से पीछे हट जाए तो बस अध्यात्म की सारी सिद्धि



करतलगत ही है। मोक्ष और ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त हुआ ही रखा है। मन के काबू में आते ही सारी सिद्धियाँ मुट्ठी में आ जाती हैं।

मन सचमुच कल्पवृक्ष है। इसकी सेवा करके हम असीम लाभ और अनंत पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही इससे सध सकते हैं। लौकिक सुख और पारलौकिक शांति की कुंजी हाथ आ सकती है, पर यदि उसे साधा न गया तो वह शैतान की तरह हमारे सिर पर सवार होकर नाना प्रकार के कुकृत्य कराता है, विविध-विधि नाच नचाता है। यदि हम इसे वश में नहीं करते तो इसके वश में हमें होना पड़ता है। कहते हैं कि 'भूत' लोगों को डराता और सताता रहता है, पर यदि कोई तांत्रिक उसे वश में कर लेता है तो फिर उसकी इच्छानुसार नाचता है, जो कुछ कराना चाहता है, करता है और जो मंगाया जाता है, लाकर देता है। सचमुच का भूत किसी को देखना हो तो वह अपने मन के रूप में देख सकता है। असंयमी और उच्छृंखल मन किसी प्रबल शत्रु से, बैताल ब्रह्मराक्षस से कम नहीं है, पर यदि उसे साध लिया जाए तो वही परम मित्र बन जाता है, देवता की तरह सहायक सिद्ध होता है।

हजारों मनुष्यों की थोड़ी-थोड़ी सेवा कर देने से उतना लोकहित नहीं हो सकता जितना अकेले अपने मन को साध लेने और सुधार लेने से हो सकता है। इसलिए सेवा का सबसे बड़ा पात्र एवं अधिकारी हमारा अपना आपा ही है। इसकी सेवा करके हम समस्त प्राणियों की सारे विश्व-ब्रह्मांड की सेवा कर सकते हैं। सेवा धर्म का आरंभ करने के लिए प्रारंभिक सीढ़ी यही है। अपनी सेवा में भगवान की, विश्व मानव की सेवा सन्निहित है।



# हम अपनी ही सेवा क्यों न करें ?

सेवा मानव-जीवन का एक आवश्यक अंग है। आत्मसंतोष उसी के आधार पर मिलता है। सेवा से रहित जीवन एक निकृष्ट कोटि का स्वार्थी और संकीर्ण जीवन है। उसमें न लोक सधता है, न परलोक। जो तुच्छ भौतिक सुखों, तृष्णाओं और वासनाओं की पूर्ति में लगा रहता है, उसे नर-पशु ही कहना चाहिए।

अपने से पिछड़े हुआओं को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने समान बनाने का प्रयत्न 'सेवा' कहा जाता है। हर व्यक्ति की एक मर्यादा है और वह उतनी ही सेवा कर सकता है। अपने से छोटे, समीपवर्ती, संबद्ध और विश्वस्त लोग ही सेवा के पात्र हो सकते हैं। इस मर्यादा से बाहर सेवा कर सकना किसी के लिए संभव नहीं, फिर चाहे वह कितना ही उदार और परोपकारी क्यों न हो ? समस्त विश्व की सेवा करके सबको सुखी बनाने की भावना तो रखी जा सकती है, पर सेवा का क्षेत्र सारे संसार को, समस्त मानव समाज को नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वे हमारी सेवा-सीमा से बाहर होते हैं।

मान लीजिए आप विश्व-सेवक हैं और अफ्रीका निवासियों के दुःख दूर करना चाहते हैं, उन्हें अपनी सेवा का लाभ देने के इच्छुक हैं, पर वे आपसे इतनी दूर हैं, आपकी पहुँच से इतने बाहर हैं कि वहाँ तक पहुँचना, उनकी भाषा समझ सकना, उनके वातावरण में रह सकना, उनकी परिस्थिति को समझ सकना आपके लिए कठिन है, फिर आप किस प्रकार उनकी सेवा करेंगे।

मान लीजिए आप आज की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में अमुक प्रकार का परिवर्तन चाहते हैं। इसके लिए आपके कुछ विचार भी हैं। आप सरकार के कर्णधारों, राजनीतिज्ञों, नेताओं, अग्रणी पुरुषों से अपने विचार के अनुसार कार्य कराना चाहते हैं, उनसे लिखित या मौखिक अनुरोध भी करते हैं, पर वे आपका, आपके विचारों का महत्त्व स्वीकार नहीं करते। आपकी इच्छा और सलाह को पागलपन मात्र मानकर उपेक्षा कर देते हैं, फिर अपना क्या वश रह जाता है ? देश के उच्च साहित्यकार केवल युग निर्माण की रचनाएँ लिखें, कवि जागरण के गीत बनाएँ, फिल्म निर्माता चरित्र निर्माण की फिल्म बनाएँ, अध्यापक प्राचीन जैसे आदर्श गुरु बन जाएँ, धार्मिक नेता ऋषियों जैसा जीवन-यापन करें, आप इन आकांक्षाओं के लिए उन्हें प्रेरणा भी करते हैं, पर वे लोग आपको तुच्छ समझकर इन बातों को उपहास में टाल देते हैं। अब आप क्या करेंगे ?

आप चाहते हैं कि मुसलमान, सिख, नागा, द्रविड़, आदिवासी, अछूत सभी लोग अपने को भारत माता की संतान और एक ही रक्त से अनुप्राणित एक ही वृक्ष के डाली, पत्ते समझें और राष्ट्रीय एकता का परिचय दें। भाषा, संप्रदाय, जातिवाद की अपनी संकुचित वृत्ति को छोड़ें, पर जिन वर्गों में आपका अधिक प्रवेश ही नहीं है, जो आपको अपने से बाहर का, अपने स्वार्थों का विरोधी मान बैठे हैं, वे आपकी बात क्यों सुनेंगे ? वे समझेंगे यह अपने हिंदूवाद के लाभ की बात कर रहा है, हमारा दुश्मन है। वे आपकी बात का तिरस्कार ही नहीं विरोध भी करेंगे, आप कैसे उन्हें समझा पाएँगे ?

कोई व्यक्ति आपको धूर्त, ढोंगी, चालाक, वाचाल, बेईमान, विरोधी मान बैठा है, आपके प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष के भाव उनके मन में भरे हुए हैं, तब आप उसे कैसी ही उत्तम सलाह क्यों न दें,

कैसा ही हितकर मार्ग क्यों न बताएँ, वह उस पर ध्यान ही न देगा और इस शिक्षा में भी कोई चाल या छिपा हुआ रहस्य ढूँढ़ेगा और ऐसा सोचेगा कि मुझे किसी जाल में फँसाने के लिए ऐसी मीठी बातें बनाई जा रही हैं। आपका सारा प्रयत्न विफल चला जाएगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने से अधिक ऊँची स्थिति के, दूरवर्ती, असंबद्ध और अविश्वासी लोगों की कोई व्यक्ति चाहते हुए भी कुछ सेवा नहीं कर सकता। उसका क्षेत्र तो अपने से छोटे, पिछड़े हुए, समीपवर्ती-परिचित, जाति-धर्म, भाषा-व्यवसाय, मित्रता, रिश्तेदार आदि किन्हीं आधारों पर संबंधित तथा वे ही लोग हो सकते हैं जो उसे भला आदमी मानते हैं, उसे योग्य, चरित्रवान और विश्वासी मानते हैं। हर सेवा परायण व्यक्ति को अपनी सेवा भावना जहाँ-तहाँ बिखरने की अपेक्षा इसी दायरे में सीमित करनी पड़ती है। आकस्मिक विपत्ति की बात दूसरी है। चोट, दुर्घटना, भूकंप, अग्निकांड आदि से पीड़ित व्यक्तियों की तात्कालिक सेवा के अचानक अवसर कभी भी आ सकते हैं। उनके लिए योजनाबद्ध सेवा वाली बात नहीं लागू होती।

संसार में अनेक प्रकार की व्याधि दिखाई देती है। लोग नाना प्रकार के शोक-संतोषों से व्यथित हैं। इनके दुःख मिटाने के लिए सहृदय व्यक्ति के मन में करुणा उत्पन्न होनी चाहिए और उसके लिए उसे प्रयत्न और त्याग भी करना चाहिए, किंतु इससे पूर्व सेवाभावों को यह भी जानना होगा कि विश्व-व्यापी शोक-संतोषों, आधि-व्याधियों और द्वेष-क्लेशों का क्या कारण है ? कारण जानने के बाद ही उसका उचित उपचार हो सकता है। निदान हो जाने पर ही रोग की सही चिकित्सा हो सकती है।

विश्वव्यापी समस्त दुःखों का कारण है-अज्ञान और पाप, स्वार्थ और मोह, तृष्णा और वासना। इन महाव्याधियों को हटाए

बिना दुःखों को दूर करने के समस्त प्रयत्न ऐसे हैं जैसे रक्त-विकार की फुंसियों पर मरहम लगाना। इससे व्याधि का समाधान नहीं होता। तात्कालिक कष्टों से तथा सामयिक अभावों से पीड़ित मनुष्यों की सहायता करना कर्तव्य है, पर उतने मात्र से न तो मानव जाति के कष्ट दूर हो सकते हैं और न समस्याएँ सुलझ सकती हैं।

धन देकर हुई सेवा सबसे साधारण मानी जाती है। उससे मनुष्यों की कुछ समस्याएँ थोड़ी देर के लिए सरल होती हैं। किसी को शरीर-सुख पहुँचाकर की हुई सेवा भी कुछ समय तक ही दुःख दूर करती है। तन और धन की सेवा नहीं करनी चाहिए, यह प्रयोजन नहीं है, वह तो उदार हृदय व्यक्ति समय-समय पर करता ही रहेगा, उन्हें तो करनी ही चाहिए, पर किसी का जीवनक्रम जब तक न सुधरेगा तब तक इन तन और धन की सहायताओं से भी उसका काम न चलेगा। आज जो सर्वत्र अशांति, क्लेश और पीड़ा का साम्राज्य छाया हुआ है उसका कारण धन या तन के सुखों की कमी नहीं है। यह तो समयानुसार दिन-दिन बढ़ते ही जाते हैं फिर भी जो क्लेश बढ़ रहे हैं उनका कारण व्यक्ति और समाज का आंतरिक स्तर, चरित्र एवं आदर्श का गिर जाना ही है। इसे उठाने की जो सेवा है उसी से विश्वव्यापी समस्याएँ सुलझेंगी अन्यथा कुआँ बनवाने या प्याऊ लगाने से, दवाखाने और धर्मशाला बनवाने से भी क्या काम चलने वाला है। जब लोगों का चरित्र चोरी, बेईमानी, झूठ, दगाबाजी, लूट, शोषण, अपहरण, विलासिता, फिजूलखर्ची, व्यसन, व्यभिचार आदि अनैतिक दशाओं में और तेजी से अग्रसर हो रहा है तो इन कुकृत्यों से जो दुष्परिणाम और दुःख उत्पन्न होंगे, उन्हें देखते हुए प्याऊ लगवाने, गौ को चारा डाल देने या चिड़ियों को चुगाने का पुण्य जलते तबे पर दो-चार बूँद पानी डालने के समान ही होगा।

जैसे एक व्यभिचारी अनेक को अपनी बुराई में सान लेता है, जैसे एक नशेबाज अपनी लत कई औरों को भी सिखा देता है, उसी प्रकार एक भले गुण, कर्म, स्वभाव का व्यक्ति भी अपने प्रभाव से कुछ न कुछ व्यक्तियों को अवश्य ही अपने समान बना सकता है, सुधार सकता है। यदि उनका मनोबल और चरित्र उच्चकोटि का है, तब तो उसका सूक्ष्म प्रभाव इतना प्रचंड भी हो सकता है कि असंख्य व्यक्तियों को कुछ से कुछ बना दे। भगवान बुद्ध, महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों ने अपने आत्मबल से कितने लोगों को क्या से क्या बना दिया, यह उदाहरण हमारे सामने हैं। पूर्वकाल में भी सारे संसार में यही प्रक्रिया काम करती रही है। चरित्रवान और आत्मबल संपन्न लोगों ने अकेले ही विश्व को, मानव-जाति को ऊपर उठाने का इतना अधिक कार्य किया है जितना कि आत्मबल से रहित हजारों उपदेशक गला फाड़-फाड़कर जीवनभर चिल्लाते रहने से भी नहीं कर सकते।

यदि अपने पास गोली-बारूद पर्याप्त हो, उत्कृष्ट हो तो अनेक शत्रुओं को मार गिराया जा सकता है, पर यदि लकड़ी की तलवार लेकर युद्ध के मोर्चे पर हुंकार मचाएँगे तो विजय की माला पहनने का लाभ नहीं मिलेगा। संसार के कष्टों को मिटाने के लिए समाज का नैतिक और मानसिक स्तर ऊँचा उठाना आवश्यक है। इस प्रकार की सेवा तभी हो सकती है जब अपनी निज की स्थिति भी वह सब कर सकने के लिए शक्तिशाली एवं उपयुक्त हो। पटरी से नीचे उतर कर नीचे गिरी हुई रेलगाड़ी के डिब्बों को उठाकर खड़ा करने के लिए मजबूत क्रेन मशीन की जरूरत पड़ती है। यदि वह क्रेन कमजोर हो, नकली हो, टूटी-फूटी हो, बेकार हो तो कितना ही प्रयत्न और प्रदर्शन करने पर भी गिरी हुई रेल के डिब्बे न उठेंगे। यही बात आज के व्यक्ति और समाज को ऊँचा उठाने के संबंध में

है। उसे साधारण प्रचार के बल पर नहीं उठाया जा सकता। उसके लिए मजबूत क्रेन मशीन की आवश्यकता है। अपने आपका फौलादी निर्माण करके क्रेन की आवश्यकता स्वयं पूरी करेंगे तभी वह सच्ची सेवा की योग्यता होगी। उसी से विश्व का कल्याण और सच्ची मानव-सेवा हो सकेगी।

किसी बर्तन का एक भाग आग पर रखा जाए तो वह सारा बर्तन गरम हो जाता है और उसके भीतर रखी हुई चीजें पकने लगती हैं। आग केवल बर्तन के पेंदे को छूती थी, पर गर्मी केवल पेंदे तक ही सीमित न रही वरन् सारे बर्तन में फैल गई। विश्व-सेवा का आरंभ हम अपने आपकी सेवा करके कर सकते हैं। व्यक्ति अकेला नहीं है। सारे समाज के साथ, सारे विश्व के साथ उसकी शृंखला जुड़ी हुई है। सुधार कार्य, सेवा कार्य किसी भी व्यक्ति से आरंभ किया जाए, उसका परिणाम निश्चित रूप से पूरे समाज पर होता है। यदि हम अपनी सेवा कर लें और अपने को सुधार लें तो सारी मनुष्य जाति की सेवा उससे हो सकती है।

किसी को सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा देकर ही उसके कष्टों और चिंताओं का समाधान हो सकता है। यह कार्य उपदेशों से नहीं, अपना आदर्श उपस्थित करके ही किया जा सकना संभव है। हम अपने को सुधार कर न केवल अपनी समस्याओं को हल करते हैं वरन् औरों के लिए आदर्श उपस्थित करके उनको ऐसी ठोस शिक्षा देते हैं, जिससे वे भी हमारी ही तरह शांति प्राप्त कर सकें। सेवा का यही सच्चा मार्ग है। आत्मसुधार के, आत्मसेवा के प्रयत्न में ही स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय है।



# गुत्थियों का हल अपने भीतर है

मनुष्य की आत्मा में एक ऐसा दिव्य प्रकाश मौजूद है जो यदि आलोकित होने लगे तो वह अपने प्रकाश क्षेत्र को स्वर्गीय बना सकता है। स्वर्ग और नरक कोई स्थान नहीं वरन् दृष्टिकोण हैं। जब मनुष्य तमोगुणी, तुच्छ, हीन, पतित, पाप दृष्टि अपनाकर अपने सोचने और काम करने का ढंग दूषित कर लेता है तो उसे अपने भीतर जलती हुई चिता जैसी जलन अनुभव होती है और बाहरी जगत में संघर्ष, क्लेश, द्वेष, रोग, शोक, दारिद्र्य, चिंता, भय, पीड़ा, त्रास की परिस्थितियाँ बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं, किंतु यदि दृष्टिकोण उच्चस्तरीय हो, उसमें सात्त्विकता, प्रेम, दया, करुणा, मैत्री, सेवा, उदारता, क्षमा, आत्मीयता जैसे आदर्शों का समन्वय हो तो व्यक्ति का अंतःकरण हर घड़ी संतोष, उल्लास, सुख एवं शांति से भरा रहता है। ऐसे व्यक्ति को अपने बाहरी जीवन में भी सर्वत्र सौजन्य, स्नेह, सद्भाव, सहयोग एवं सत्कर्मों का वातावरण ही फैला दीखता है। यों यह दुनिया तीन गुणों से बनी है। इसमें भला-बुरा सभी कुछ है। पाप और पुण्य का, देवत्व और असुरता का, दुःख और सुख का, उचित और अनुचित का अस्तित्व यहीं है, फिर भी व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही परिस्थितियाँ प्राप्त कर लेता है। भौर के लिए इस बगीचे में फूलों की और गुबरीले कीड़े को गोबर की प्राप्ति हो ही जाती है। संसार बुरा भी है और भला भी। यहाँ न दुष्टों की कमी है न सज्जनों की, पर यह सब होते



हुए भी हमारे दृष्टिकोण का चुंबकत्व अपने आप में एक ऐसा शक्तिशाली तत्व है जो अपने आकर्षण से अपनी जाति की वस्तुओं, आत्माओं एवं परिस्थितियों को खींचकर समीप जमा कर लेता है।

मकड़ी अपना जाला आप बुनती है और उसी में फँसी पड़ी रहती है। हम भी अपनी परिस्थितियों की सृष्टि आप करते हैं और उसी में सुख-दुःख अनुभव करते हुए जीवन को हँसते-रोते व्यतीत करते रहते हैं। आमतौर से ऐसा समझा जाता है कि हमारी वर्तमान परिस्थितियों के निर्माता कोई और हैं। जब विपरीत या कष्टकारक कोई अवसर सामने आते हैं और उनके निदान के कारण की ढूँढ़-खोज करनी आवश्यक होती है, तब हम यह खोजबीन अपने भीतर न करके, अपने दोषों पर विचार न करके बाहरी कारणों पर दोषारोपण करते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि दोषी कोई और सिद्ध हो जाए और हम अपने आपको निर्दोष मानकर संतोष कर लेने का कोई बहाना ढूँढ़ निकालें। हम में से अधिकांश के प्रयत्न ऐसे ही होते हैं। मानवीय बुद्धि भी जादू की पिटारी है, इसे जिधर को लगा दिया जाए उधर ही अपनी मान्यता के समर्थन में कुछ न कुछ तर्क, प्रमाण, कारण गढ़ कर सामने प्रस्तुत कर देती है। फूँस का भेड़िया बनाकर खड़ा कर देने की विद्या में यह जादूगरनी परम प्रवीण है। भीतरी मन जिस बात की आकांक्षा करे उसके समर्थन में वह कल्पना का पूरा महल नहीं, नगर नहीं, संसार ही गढ़ सकती है और छोटे बच्चे की तरह मन को इस प्रकार झुठला सकती है मानो चंदा मामा को आकाश से उतारकर हथेली पर ही रख लिया हो।

हम में से अधिकांश को इसी भ्रम में भटकना पड़ता है। अपनी गुत्थियों के समाधान का हल खोजते हैं, पर वह मिले कैसे ? भूल-भुलैया में भटकने वाले दिग्भ्रांत मनुष्य की तरह हम

वस्तुस्थिति को समझ कहाँ पाते हैं जो अपनी कठिनाइयों के कारण को समझें और उसका सही उपाय जानकर उसी के लिए सचेष्ट हों ? हमारी मान्यता यह होती है कि हम स्वयं निर्दोष हैं, हम न तो गलती करते हैं और न गलत सोचते हैं, हमारे अंदर न दोष हैं, न दुर्गुण, न हमें अपने को सुधारने की आवश्यकता है, न सँभालने की। जो कुछ खराबी है सब बाहर वालों में है। वे ही प्रत्येक कठिनाई के जिम्मेदार हो सकते हैं। इस मान्यता के स्थिर होते ही कुशाग्र बुद्धि वाले वकील की तरह मन अपना काम करना आरंभ कर देता है और मुकदमा चाहे झूठा ही क्यों न हो उसे जिताने के लिए आकाश-पाताल के कुलावे मिलाना आरंभ कर देता है। देखते-देखते इतने तर्क, इतने प्रमाण, इतने कारण सामने प्रस्तुत हो जाते हैं कि मनुष्य उन्हें ही सत्य मानने लगता है और किसी प्रकार अपनी निर्दोषिता पर आत्मसंतोष करता हुआ थोड़ा चैन पा लेता है।

अनेकों व्यक्ति सोचते हैं कि उन्हें सताया गया है। सताने वाले जो व्यक्ति समझ में आते हैं उनके प्रति क्रोध, द्वेष और प्रतिहिंसा के भाव उठना स्वाभाविक ही है। यह एक नई जलन अपने कष्टों के साथ और जुड़ जाती है और जले पर नमक छिड़कने की तरह और दुःख देती है। कई बार और भी सरल तरीका समझ में आ जाता है। व्यक्तियों को दोषी न समझकर भाग्य, प्रारब्ध, विधाता, ईश्वर, ग्रह, नक्षत्र, भूत, प्लीत आदि को कारण मानकर संतोष कर लेने की भी पद्धति का बहुत प्रचार हो चला है। कारण यह है कि इन विश्वासों के आधार पर मनुष्य को अपनी विवशता स्वीकार करने और द्वेष एवं प्रतिहिंसा से बचने का भी अवसर मिल जाता है। दैव से, भाग्य से, ग्रह-नक्षत्रों से द्वेष करने से भला क्या लाभ ? यह सोचकर दुर्बल मानस वाले व्यक्ति भी अपना गम गलत कर सकते हैं।

वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। मनुष्य का अंतःप्रदेश जिस घटिया या बढ़िया स्तर का होता है उसे अपने अनुरूप व्यक्तियों, वस्तुओं एवं परिस्थितियों को प्राप्त करने में देर नहीं लगती। भीतरी प्रतिभा जब विकसित होती है उसके प्रकाश से बाहर का सब कुछ जगमगाने लगता है। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अधिकांश महापुरुष ऐसी अभावग्रस्त एवं हीन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे, जहाँ स्वाभाविक विकास की गुंजायश बहुत ही कम थी। यदि उनकी अंतरात्मा प्रबल मनस्वी न रही होती तो उन्हें भी इस संसार के अनेक दीन-हीन व्यक्तियों की तरह भाग्य का रोना रोते हुए जिंदगी के दिन पूरे करने पड़ते, पर हुआ इससे सर्वथा विपरीत। उनने अपनी आंतरिक प्रतिभा के बल पर आगे को कदम बढ़ाए। बढ़ते हुए कदमों को प्रोत्साहित करने वाला दैवी नियम इस संसार के आदि से ही बना हुआ है। कहते हैं-‘ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं।’ पुरुषार्थी के आत्मविश्वासी कदम जिस राह पर बढ़ते हैं, उसके रोड़े हटते ही हैं। हिमालय से निकली हुई गंगा की समुद्र से मिलने की प्रदीप्त भावना को हजारों मील भूमि पर बिखरे हुए असंख्यों अवरोध कहाँ रोक सके ? गंगा की धड़धड़ाती हुई धारा समस्त प्रतिरोधों को कुचलकर समुद्र तक जा ही पहुँचती है। प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई आत्मा भी क्यों कर रुकेगी। उसे कौन रोकेगा ? हिमालय जैसा उच्च आंतरिक स्तर जिसका होगा और समुद्र जैसे विशाल लक्ष्य की आकांक्षा होगी, उसका मार्ग गंगा की तरह ही प्रशस्त है। उसकी लक्ष्य पूर्ति सर्वथा सुनिश्चित है।

इस संसार में कोई बुराई नहीं है, कोई प्रतिकूलता नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा रहा है और न यही प्रेरणा दी जा रही है कि बाह्य जगत

में जो बुराइयाँ एवं त्रुटियाँ हैं, उन्हें सुधारा या बदला न जाए। यह तो करना ही चाहिए, पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सारे संसार को सुधार लेना या इच्छानुकूल बना लेना संभव नहीं है। सारी पृथ्वी पर फैले हुए काँटे नहीं बीने जा सकते, पर अपने पैरों में जूते पहने जा सकते हैं, जिससे काँटों का प्रभाव समाप्त हो जाए। अपना सुधार करना, अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित करना, जूते पहन कर काँटों से निश्चिंत होने के समान ही है। बाह्य जगत की बुराइयों के सुधारने के लिए भी अपनी उत्कृष्टता आवश्यक है। गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं, ठंडे लोहे से काटा जा सकता है। कीचड़ को कीचड़ से नहीं, शुद्ध जल से धोया जा सकता है। क्रोध को क्रोध से नहीं, शांति से परास्त किया जा सकता है। यदि हम स्वयं मलीन होंगे, बुराइयों से सने होंगे तो दूसरों का सुधार कैसे कर सकेंगे ? यदि हमारी भीतरी उलझनों का जाला तना है तो बाहर की गुत्थियों को सुलझाया जा सकना किस प्रकार संभव होगा ?

इस संसार में अगणित कठिनाइयाँ मौजूद हैं। इस मानव-जीवन की अगणित गुत्थियाँ उलझी पड़ी हैं, उनका सुलझाया जाना नितांत आवश्यक है। उलझनों के बीच, कठिनाइयों के बीच चैन किसे मिल सकता है ? पर इन पहेलियों को सुलझाते हुए हम यह न भूलें कि अधिकांश समस्याओं की जड़ हमारे भीतर है, उनका समाधान भी हमारे अपने ही अंदर मौजूद है। अपने को सुधारना, अपने को बनाना, अपने को बढ़ाना ही वह उपाय है जिससे दुनिया सुधर सकती है। अपनी आकांक्षाओं की दुनिया साकार हो सकती है और उन्नति के उस शिखर पर पहुँचा जा सकता है जहाँ पूर्णता ही पूर्णता है, जहाँ अभाव का, शोक का, भय का, दुःख का एक कण भी शेष नहीं रहता।



# सच्चरित्रता अनिवार्य है ।

कठोपनिषद् में वैवस्वत यम ने नचिकेता को आत्मसाधना पर प्रकाश डालते हुए कहा—

नाविरतो दुश्चरितात्राशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैव वाप्नुयात् ॥

-१/२/२४

“हे शिष्य ! जिसने अपना चरित्र शुद्ध नहीं किया, जिसकी इंद्रियाँ शांत नहीं, जिसका चित्त स्थिर नहीं रहता और जिसका मन सदैव अशांत रहता है, वह केवल बाह्य ज्ञान के आधार पर आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।”

चरित्र या कर्म अपना फल किस प्रकार देते हैं, यह जानने की बात है ? बीज के अनुरूप ही फल होता है। पाप से आत्मा की पराधीनता दृढ़ होती है और पुण्य आत्मा को मुक्त अवस्था की ओर अग्रसर करता है। यही पाप और पुण्य के फल का रहस्य है। बुरे कर्म आत्मा के लिए आवश्यक हैं या नहीं, यह बातें व्यवहार से स्पष्ट मालूम पड़ जाती हैं। मोटे तौर पर वासना पूर्ति से अशांति बढ़ती है, क्रोध से शरीर जलने लगता है और आत्मा को बेचैनी मालूम पड़ती है। लोभ आता है तो मनुष्य कितना उद्विग्न हो जाता है मानो वह नरक की अग्नि में प्रत्यक्ष जल रहा हो। इसी प्रकार संसार में जितने भी बुरे कर्म हैं वह आत्मा को कष्ट देने वाले और उसके शाश्वत गुणों के विपरीत ही होते हैं, फिर इनके रहते आत्मा अपने मुक्त रूप में प्रकट भी कैसे हो सकता है ?

मन की मलीनताएँ, पाप, क्रोध, काम और इच्छाएँ नहीं रहतीं तो आत्मा को तुरंत शांति मिलती है, गुण बढ़ते हैं, ज्ञान बढ़ता है, आनंद मिलता है, शक्ति अनुभव होती है, संतोष होता है। इस प्रकार आत्मा को सुख की अनुभूति होती है। इससे भी मालूम पड़ता है कि काम, क्रोध आदि विकार हैं और वे आत्मा की पवित्रता को कलंकित करने वाले ही होते हैं। अतः इनके रहते हुए आत्मज्ञान की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है ?

आत्मा को केवल वही इच्छाएँ सुखद अनुभव होती हैं जिन्हें हम पुण्य कहते हैं। सेवा, सद्धर्म, सद्भावना, प्रेम, स्नेह, त्याग और उदारता के क्षणों में आत्मा की शुद्ध इच्छा प्रकट होती है, जबकि सांसारिक भोग की इच्छाएँ पराधीन और दूसरे पदार्थों का दास बनाती हैं। अतः रोग-द्वेष सभी अस्वाभाविक हैं। इनके रहते हुए आत्मस्थिरता या आत्मा के सुखों में एकाग्रता नहीं हो पाती और आत्मस्थित हुए बिना उसका ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं। यह स्थिति ही ऐसी है जिसे कामनाओं के पहाड़ पर चढ़कर नहीं देख सकते। आत्मा को देखने के लिए तो विशुद्ध आत्मगुण वाला बनना पड़ता है या आत्मा में ही बस जाना होता है। अतः आत्मा को जाग्रत करने का पहला महामंत्र आत्मा को शुद्ध बनाना है।

अध्यात्म योग की आधारशिला की व्याख्या करते हुए आदिगुरु शंकराचार्य ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—

**विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मानि समाधानमध्यात्म योगः।**

अर्थात्-चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में समावेश करना ही अध्यात्म-योग है।

उपर्युक्त कथन से इस आंतरिक प्रक्रिया पर पूरी तरह प्रकाश पड़ जाता है, आत्मा की शुद्धि के बिना आत्मज्ञान संभव नहीं है।

जैन धर्म में “तत्त्वाधिगम सूत्र” में इस बात को और भी विवरण युक्त करते हुए लिखा है—

**हिंसानृतास्तेयब्राह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।**

तत्त्वा० ७/२

अर्थात्—प्राण हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार और परिग्रह—इन पाँच पापों को छोड़ना ही व्रत है।

बौद्धदर्शन में निवृत्ति मार्ग की चर्चा की जाती है। वह वस्तुतः आत्मोद्धार का ही पर्याय है। इसके लिए जिन साधनों का विस्तार किया गया है वे भी उपनिषदों के आत्मशोधन एवं जैन-दर्शन के व्रतों के समान ही हैं। बौद्ध-भिक्षु आत्मकल्याण के लिए निवृत्ति पथ का अनुसरण करता है तो उसे भी इस तरह की पाँच प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती हैं—

(१) प्राणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

—मैं प्राणि-वध नहीं करूँगा।

(२) अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

—किसी की चोरी नहीं करूँगा।

(३) कामे सुमिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

—व्यभिचार नहीं करूँगा।

(४) मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

—मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।

(५) सुरा-मेरेय-मज्ज पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

—मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।

हिंदू धर्म में भी यह संपूर्ण दुराचरण तो वर्जित हैं ही, साथ ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से जानी गई मन की सूक्ष्म विकारमयी वृत्तियों से जिनके कारण बड़े दोष बन पड़ते हैं, निग्रह की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है, जो वास्तव में दूसरे धर्मों के सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक तथ्यपूर्ण एवं वैज्ञानिक हैं। उदाहरणार्थ कामवासना बुरी वस्तु है और वह आत्मज्ञान से विमुख करने वाली है, परंतु मनुष्य केवल मनोबल के आधार पर वासना से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि परिस्थितियों का प्रभाव भी तो अपना महत्त्व रखता है। मन की कामवासना वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से अन्नवोष है अर्थात् यदि आहार अनियमित है तो मन की वासना पर कभी भी नियंत्रण नहीं किया जा सकता। इसलिए सच्चरित्रता के सिद्धांतों को कुछ वाक्यों तक ही सीमित नहीं किया गया वरन् उनका बहुत अधिक विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इन नियमों को प्रारंभिक अवस्था, आहार-विहार, शिक्षा-दीक्षा, भाषा-व्यवहार, धर्म-कर्म आदि से ही बाँधने का प्रयास किया है। मनुष्य इस सर्वांगीण बुद्धि-प्रक्रिया को अपनाए बिना जीवन के दोषों से कदापि मुक्त नहीं हो सकता।

संसार में मनुष्य अपने क्षणिक सुख के लिए अनेक प्रकार के दुष्कर्म कर डालता है। उसे यह खबर नहीं होती कि इन दुष्कर्मों का फल हमें अंत में किस प्रकार भुगतना पड़ेगा। मनुष्य को जो तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनके लिए किसी अंश तक समाज और देश-काल की परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हो सकती हैं, पर अधिकांशतया वह अपने ही दुष्कर्मों के प्रतिफल भोगता है, किंतु मनुष्य शरीर दुःख भोगने के लिए नहीं मिला। यह आत्मकल्याण के लिए मुख्यतः कर्म-साधन है। इसलिए अपनी प्रवृत्ति भी



आत्मकल्याण या सुख प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति में होना चाहिए और इसके लिए बुरे स्वभाव, बुरे कर्मों से बचना भी आवश्यक हो जाता है।

विकास का क्रम भी इसी तरह चलता है। साधनों को प्राप्त कर यदि आत्मा विवेक का सदुपयोग करता है और उसे अच्छे कर्मों में लगाता है तो आत्मा अपनी शक्तियों को बढ़ाता हुआ अनुकूल साधनों को भी बनाता रहता है और अंत में प्रारब्ध से स्वाधीन होकर अपनी पूर्ण उन्नति कर लेता है।

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**

**तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥**

‘सत्य का मुख ढका हुआ है। ऐ सत्य शोधक ! यदि तू उसे प्राप्त करना चाहता है तो उस ढक्कन को खोलना पड़ेगा जिससे सत्य ढक गया है। यदि तू उसे नहीं छोड़ सकता तो सत्य ही तुझे छोड़ जाएगा।’ दोनों बातें एक साथ कदापि नहीं हो सकतीं। आत्मज्ञान को बुरे कर्मों ने भी इसी तरह ढक लिया है। उसे प्राप्त करने के लिए इस अशुद्ध अवस्था का परित्याग करना ही पड़ता है। सांसारिक विषय-वासनाओं की इच्छाओं पर विजय करनी ही पड़ती है।

